दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष नववाँ
अंक नववाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

मगसिर
२४८०

संतों की ध्वनि.....

संतों के अन्तर-अनुभव में से यह ध्वनि उठी है कि अरे जीव! तूने कभी अपने परमानंदस्वभाव को छोड़ा नहीं है; तेरा सहज ज्ञान-आनंदस्वभाव तुझमें ही भरा है; तू सदैव अनाकुल शांतरस का कुण्ड है; यदि अग्नि कभी अपने उष्णस्वभाव को छोड़े तो भगवान आत्मा अपने पवित्र चैतन्यस्वभाव को छोड़े! परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। केवलज्ञान और परमानंद प्रगट होने के सामर्थ्य से सदैव परिपूर्ण ऐसा तेरा स्वभाव है, उस स्वभाव के अवलम्बन से ही धर्म प्रगट होता है; इसके अतिरिक्त कहीं बाहर से धर्म नहीं आता। एकबार अन्तर में अपने ऐसे स्वभाव को देख।

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१०५

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

शांति को कहाँ ढूँढ़े ?

कई जीव ऐसा पूछते हैं कि हमें शांति क्यों नहीं मिलती ? किन्तु भाई ! शांति तो तुम्हारे आत्मा में से आयेगी या कहीं बाहर से ? जिस तत्त्व में शांति भरी है, उसके भान बिना बाह्य पदार्थों में से तुम शांति लेना चाहोगे तो कैसे मिलेगी ? जंगल में जाने से शांति हो जाएगी... ऐसा मानते हैं, परन्तु क्या तुम्हारी शांति जंगल में पड़ी है ? तुम्हारी शांति कहीं बाह्य में नहीं है, शांति का धाम तो तुम्हारे आत्मा में ही है, उसके समक्ष देखने से शांति प्राप्त हो सकती है। जो जीव आत्मसन्मुख होकर एकाग्र हुआ, उसे बाह्य का कोई भी कोलाहल बाधक नहीं होता; और जिसे आत्मा का लक्ष नहीं है, वह भले जंगल में जाकर बैठ जाए, तथापि उसे सच्ची शांति नहीं मिल सकती। जीव को किन्हीं बाह्य कारणों से अशांति नहीं है, किन्तु स्वयं अपने मोहभाव से अशांति उत्पन्न की है, और आत्मा की समझ द्वारा शांति भी स्वयं ही प्रगट कर सकता है। बाह्य पदार्थों का तो आत्मा में त्रिकाल अभाव ही है; इसलिये वे कोई पदार्थ आत्मा को शांति या अशांति के कारण नहीं हैं।—ऐसी समझ करे तो भी तीव्र आकुलता मिटकर कितनी शांति हो जाये !

[—रात्रि-चर्चा पर से]

आत्मधर्म

मगसिर : २४८० ☆ वर्ष नववाँ ☆ अंक नववाँ

अध्यात्म का रहस्य

कैसी दृष्टि से साधकपना होता है ?

["वस्तु का स्वरूप अनेकान्तमय है; वहाँ साधक जीव की अध्यात्मदृष्टि में कभी निश्चय की मुख्यता होती है और कभी व्यवहार की मुख्यता होती है—ऐसा नहीं है; साधक की दृष्टि में तो सदैव अभेद की ही मुख्यता है; अभेद की दृष्टि से ही सदैव साधकत्व होता है।"—जीवधर्म का यह गूढ़ रहस्य पूज्य स्वामीजी ने इन प्रवचनों में स्पष्ट किया है।]

(गतांक का शेषांश)

द्रव्य और पर्याय दोनों वस्तु के ही अंश है; उनमें द्रव्य को प्रधान करके उसे निश्चयनय का विषय कहा है, परन्तु पर्याय को गौण करके उसे व्यवहार कहा, उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पर्याय पर के कारण होती है! पर्याय भी अपना ही अंश है, परन्तु यहाँ अभेद द्रव्य की पहिचान कराने के लिये पर्याय को गौण करके उसे व्यवहार कहा है। "रागादि विकारी भाव, पुद्गल के परिणाम हैं"—ऐसा आध्यात्मदृष्टि से समयसारादि शास्त्रों में कहा है; परन्तु वहाँ उसका अभिप्राय क्या है, वह समझना चाहिए। वहाँ तो क्षणिक पर्याय को गौण करके उसका लक्ष छुड़ाने के लिये और अभेद द्रव्य की दृष्टि कराने के लिये वैसा कहा है; कहीं जीव की पर्याय पर के कारण होती है अथवा पुद्गल कर्म, जीव को विकार कराते हैं—ऐसा कहने का वहाँ आशय नहीं है। अज्ञानी जीव अपने मिथ्या अभिप्राय में से विपरीत आशय निकालकर शास्त्र का विपरीत अर्थ करते हैं, परन्तु

शास्त्र में वैसा आशय है ही नहीं।

अध्यात्म शास्त्रों में जीव का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये अभेद-द्रव्य को प्रधान करके उसे निश्चय कहा है। सामान्य द्रव्य अभेदरूप है, वह तो निश्चय का आश्रय है और पर्याय भेदरूप है, वह व्यवहार का आश्रय है। देखो, यह व्यवहार, पर के आश्रय से नहीं है परन्तु अपना ही अंश है। द्रव्य और पर्याय दोनों निश्चय से अपने ही हैं। पर्याय को व्यवहार कहा परन्तु उससे वह पर्याय कहीं पर के कारण नहीं होती। क्षायोपशमिक ज्ञान इत्यादि भाव अथवा रागादि भाव भी निश्चय से जीव के ही अंश है; क्योंकि वे जीव की पर्याय में होते हैं। परन्तु यहाँ अध्यात्मकथन में अभेद वस्तु बतलाने का प्रयोजन होने से भेद को-पर्याय को गौण कहा जाता है; भेद को गौण करके अभेद को मुख्य कहा जाये, तभी अभेद वस्तु भलीभाँति पहिचानी जा सकती है; और अभेद वस्तु को यथार्थ पहिचानकर उसका आश्रय करने से ही जीव का कल्याण होता है; भेदबुद्धि तो अनादिकालीन है, उससे जीव का कल्याण नहीं होता।

अध्यात्मकथन में अभेद को मुख्य और भेद को गौण कहने का प्रयोजन क्या है - वह बतलाते हैं—वहाँ प्रयोजन यह है कि वस्तु का भेदरूप तो सभी लोग जानते हैं; और जो जानते हैं, वही उन्हें प्रसिद्ध है; उससे तो लोग पर्यायबुद्धि हैं। लोगों को पर्याय ही प्रसिद्ध है अर्थात् क्षणिक रागादि पर्याय को ही वे सम्पूर्ण आत्मा मान रहे हैं, परन्तु रागरहित त्रिकाली शुद्ध द्रव्य को वे नहीं जानते, इसलिये वे मिथ्यादृष्टि हैं; उन्हें त्रिकाली शुद्ध द्रव्य का ज्ञान कराने के लिये अनादि-अनंत एकरूप चैतन्यस्वभाव को प्रधान करके, उसे निश्चय का विषय कहा है। इसप्रकार अखण्ड जीवद्रव्य का ज्ञान कराने के लिये पर्यायाश्रित भेद को गौण करके अभूतार्थ कहा है। अभेद द्रव्य की दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देते; इसलिये अभेददृष्टि कराने के लिये भेद को अभूतार्थ कहा है। परन्तु पर्याय को अभूतार्थ कहा, इसलिये वह वस्तु का स्वरूप नहीं है—ऐसा नहीं है। पर्याय अपनी है, उसे न जाने और अकेले सामान्य द्रव्य को ही माने तो वह भी एकान्त मिथ्यादृष्टि है।

शरीर की क्रिया आत्मा करता है अथवा मेरी पर्याय पर से होती है—ऐसा जो मानता है, वह तो स्थूल अज्ञानी है; परन्तु राग-द्वेष है, वह मैं हूँ और क्षयोपशमभाव भी मैं हूँ—इसप्रकार क्षणिक पर्याय जितना ही आत्मा को मानते हैं और त्रिकाली तत्त्व को नहीं जानते—ऐसे जीव भी पर्यायबुद्धि मिथ्यादृष्टि हैं।

यहाँ कहते हैं कि लोगों को पर्याय तो प्रसिद्ध है, परन्तु त्रिकाल शक्ति के पिण्डरूप

अभेदस्वभाव को वे नहीं जानते; इसलिये मिथ्यादृष्टि हैं। अभी तो, पर्याय भी पर निमित्त के कारण होती है—ऐसा जो मानते हैं, उनके तो पर्याय भी प्रसिद्ध नहीं है; उन्होंने तो पर्याय का स्वरूप भी नहीं जाना है। कर्म, राग कराते हैं—ऐसा माने तो उसने राग पर्याय को अपना नहीं जाना है। कर्म के कारण राग नहीं होता; राग तो मेरे कारण होता है—; इसप्रकार पर्याय को तो जानते हैं, परन्तु रागपर्याय ही मैं हूँ—ऐसा अज्ञानी मानते हैं; रागरहित ज्ञानस्वभावी तत्त्व क्या है, उसे अज्ञानी नहीं जानते; और उस स्वभाव के ज्ञान बिना कभी धर्म नहीं होता। इसलिये उस अभेदस्वभाव की दृष्टि और ज्ञान कराने के लिये अध्यात्म-कथनी में उसे मुख्य करके निश्चय कहा है। लोग कहते हैं कि बड़ों का पल्ला पकड़ना चाहिए; लेकिन बड़ा कौन ?—पर का तो अपने में अभाव है और पर्याय भी एक क्षणपर्यंत की है; त्रिकाल एकरूप रहनेवाला चैतन्यशक्ति का पिण्ड अभेदस्वभाव है, वही बड़ा है, उसका अवलम्बन करने से धर्म होता है; इसलिये धर्मी की दृष्टि में सदैव उस अभेदस्वभाव की ही मुख्यता है। अजीव पदार्थों से जीव को पृथक् बतलाने के पश्चात् अब तो जीव में अभेदस्वभाव की दृष्टि कराने की बात है, इसलिये मुख्य-गौण की बात समझाई है।

मनुष्य, वह जीव; राग करे, वह जीव, अथवा मकानादि को जाने वह जीव—इसप्रकार राग और क्षायोपशमिक ज्ञानादि पर्यायों को ही लोग जीवतत्त्व मान रहे हैं, परन्तु वे सब तो क्षणिकभाव हैं, त्रिकालस्थायी जीवतत्त्व शुद्ध चैतन्यमय है—ऐसे जीवतत्त्व को लोग नहीं जानते। देखो, ग्यारह अंग तक पढ़ जाये, परन्तु अपने अभेद स्वभाव की दृष्टि न करे तो वह जीव भी मिथ्यादृष्टि अज्ञानी ही रहता है; और कदाचित् शास्त्रज्ञान विशेष न हो परन्तु अंतर में परिपूर्ण सामर्थ्य के पिण्डरूप अभेदस्वभाव को ज्ञान में पकड़कर एकाग्र हो तो वह जीव आराधक धर्मी है।

पर्याय एक समय की है और द्रव्य त्रिकाल है; पर्याय के सामर्थ्य की अपेक्षा द्रव्य का सामर्थ्य अनंतगुना है। उस द्रव्य के ही आश्रय से अराधकपना होता है। आराधकपना स्वयं पर्याय है, परन्तु वह पर्याय, द्रव्य के आश्रय से प्रगट होती है ! इसीलिये अभेद वस्तु के गीत गाये जाते हैं, और उसी को प्रधान करके निश्चय कहा है; तथा भेदरूप पर्याय को गौण करके व्यवहार कहा है।

राग-द्वेषादि विकार होते हैं, वह अपनी पर्याय है और वह अपने से ही होती है; परन्तु वह एक अंश है; सम्पूर्ण आत्मवस्तु उस अंश में नहीं समा जाती। इसलिये उस अंश की बुद्धि छुड़ाकर अखण्ड वस्तु की दृष्टि कराने के लिये ही अंश को अभूतार्थ कहा है; परन्तु जो विकार होता है, वह पर के कारण होता है—ऐसा कहने का आशय नहीं है। यहाँ तो नित्य-अनित्य, द्रव्य-पर्याय, एक-

अनेक, शुद्ध-अशुद्ध इत्यादि रूप से अनेकान्तवस्तु है, उसमें किसके आश्रय से धर्म होता है, वह समझाया है। आत्मा को साधक बनाने के लिये अनेकान्तवस्तु में भी मुख्य-गौण होते हैं। धर्मी की दृष्टि में सदैव अभेद शुद्धस्वरूप की ही मुख्यता रहती है, और उसकी मुख्यता के आश्रय से ही धर्म होता है; भेदरूप व्यवहार है, वह ज्ञान करने के लिये बराबर है, परन्तु धर्मी की दृष्टि में उसका आश्रय नहीं है। यदि भेद को बिलकुल न जाने तो सम्पूर्ण वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, इसलिये मिथ्यात्व दूर नहीं होता, और यदि भेद के आश्रय से लाभ माने तो भी अभेद वस्तु के आश्रय बिना मिथ्यात्व दूर नहीं होता। भेद और अभेद—दोनों स्वरूप से वस्तु को जानकर, यदि अभेद का आश्रय करे, तभी सम्यग्दर्शन और अनेकान्त ज्ञान होता है। यदि द्रव्य और पर्याय दोनों को यथार्थरूप से जाने तो वह ज्ञान, द्रव्योन्मुख हुए बिना न रहे।

—[स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३११-३१२ के भावार्थ पर पूज्य स्वामी जी के प्रवचन से]

जिनागम की आराधना और उसके निरंतर अभ्यास का फल

भो आत्मन्! यह जिनेन्द्र भगवान के वचन दिन-रात निरन्तर पढ़ने योग्य हैं। जिनवचनों के अतिरिक्त अन्य कोई शरणभूत नहीं है; इसलिये इन्हें सर्वप्रकार से हितरूप जानकर जिनागम की आराधना करके मनुष्य जन्म को सफल करो!

जिनागम के अभ्यास से जो गुण प्रगट होते हैं उनका संक्षिप्त वर्णन करते हैं:—

(१) आत्महित का परिज्ञान जिनागम से होता है। [अज्ञानीजन इन्द्रियजनित सुख को ही हितरूप मानते हैं... और सम्यग्ज्ञानीजन तो उन इन्द्रिय-विषयों को तृष्णा की वृद्धि करनेवाला, आकुलता उत्पन्न करनेवाला, पराधीनतासहित अल्पकाल रहकर नष्ट हो जानेवाला, तथा भयसहित और दुर्गति में ले जानेवाला जानकर छोड़ते हैं। कदाचित् चारित्रमोह के उदय के वश वे इन्द्रिय

—विषयों का उपभोग करते हैं—ऐसा जगत को भले दिखाई दे परन्तु अंतरंग में तो वे उनसे अत्यन्त उदासीन वर्तते हैं। इसप्रकार जिनागम से ही आत्महित का ज्ञान होता है।]

(२) जिनागम के अभ्यास से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा योग का अभाव होने से भावसंवर होता है।

(३) और जिनागम के अभ्यास से धर्म में तथा धर्म के फल में तीव्र अनुराग बढ़ने से नवीन-नवीन संवेग-वैराग्य होता है।

(४) जिनागम के अभ्यास से रत्नत्रयधर्म में अत्यन्त निष्कंपता होती है; क्योंकि जिनागम के ज्ञान द्वारा दर्शन-ज्ञान-चारित्र को अचल निजरूप जानेगा, वही धर्म में निष्कंपता धारण करेगा।

(५) और जिनागम से तपोभावना होती है; जिनागम से जो स्व-पर का भेद जानेगा, वही कषायमल को आत्मा से दूर करने के लिये तपश्चरण करेगा; इसलिये जिनागम से ही तप की भावना होती है।

(६) और जिसने जिनेन्द्रदेव के स्याद्वादरूप आगमों का भलीभाँति ज्ञान किया हो, उसी को प्रमाण नय से चार अनुयोग का यथावत् उपदेशकपना होता है।

—इसप्रकार जिनागम के सेवन से प्रगट होनेवाले गुण कहे।

१- आत्महित का ज्ञान

२- भावसंवर

३- नवीन संवेग

४- रत्नत्रयधर्म में अत्यन्त निष्कंपता

५- तपोभावना

६- यथावत् स्व-परोपदेशकपना

—यह छहों गुण जिनागम के अभ्यास से प्रगट होते हैं।

☆☆☆

(१) आत्महित का ज्ञान करने से क्या होता है, वह कहते हैं—

आत्मज्ञान द्वारा ही जीव-अजीव-आस्रव-बंध-संवर-निर्जरा मोक्षरूप सर्व पदार्थों का सत्य-स्वरूप जाना जाता है तथा इहलोक और परलोक संबंधी हित-अहित भी उस ज्ञान से ही ज्ञात होता है।

आत्महित को न जाननेवाला मूढ़ जीव, मोह को प्राप्त होता है; मोह से कर्मबंध होता है और कर्मबंध से जीव अनंत संसार-सागर में गोते खाता है।

आत्महित को जाननेवाले जीव को हित में प्रवृत्ति तथा अहित से निवृत्ति होती है। इसलिये आत्महित सीखने योग्य है।

(२) जिनागम के अभ्यास से संवर होना बतलाते हैं—

स्वाध्याय करनेवाले साधु पाँच इन्द्रियों के संवररूप होते हैं, इसलिये स्पर्श-रस-गंध-रूप-शब्द—इन पाँच प्रकार के इन्द्रिय-विषयों से वे दूर हो जाते हैं, मन-वचन-काय की तीन गुप्तिरूप होते हैं, तथा मन की एकाग्रतारूप होते हैं और विनयरहित होते हैं; इसलिये जिनागम की स्वाध्याय से ही इन्द्रिय द्वारा—मन-वचन-काया द्वारा तथा कषाय द्वारा आनेवाले कर्म रुक जाते हैं और उससे महान संवर होता है।

(३) स्वाध्याय से नवीन-नवीन संवेग की उत्पत्ति होना कहते हैं

ज्यों-ज्यों श्रुत की अवगाहना करता है—अभ्यास करता है, त्यों-त्यों नवीन-नवीन धर्मानुरागरूप संवेग की श्रद्धा द्वारा जीव को आनंद की प्राप्ति होती है। कैसा है श्रुत?—पूर्व अनंतकाल में जिसका श्रवण नहीं किया, और कदाचित् किसी पर्याय में उसका श्रवण किया तो भी यथार्थ श्रद्धान-अनुभवन-आस्वादन के अभाव के कारण वह श्रवण न करने तुल्य ही हुआ। और उस श्रुत में अतिशय रूप रस का विस्तार है; क्योंकि ज्ञान आत्मा का निजरूप है और उसमें समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। ज्यों-ज्यों जीव उसका अनुभव करे, त्यों-त्यों अज्ञानभाव के नाशपूर्वक अपूर्व आनंद उल्लसित होता है। ऐसे श्रुत का ज्यों-ज्यों अभ्यास करता है, त्यों-त्यों जीव को नवीन-नवीन धर्मानुराग जागृत होता है तथा संसार-भोगों से भयभीतता बढ़ती है; इसलिये नवीन-नवीन संवेग का (वैराग्य का) कारण यह जिनेन्द्र के परमागम का सेवन ही है।

(४) जिनेन्द्र के आगम से और श्रद्धापूर्वक अनुभव से धर्म में निष्कंपता-दृढ़ता-अचलता होती है, वह बात करते हैं—

आगम का ज्ञाता ही परमागम के अभ्यास से रत्नत्रय की वृद्धि तथा हानि को जानता है, और जो रत्नत्रय की हानि-वृद्धि को जानता है, वही हानि के कारणों को छोड़कर तथा वृद्धि के कारणों को अंगीकार करके विशुद्धता को प्राप्त होता हुआ दर्शन में-ज्ञान में-तप में तथा संयम में स्थिर होकर जीवनपर्यंत उसमें निश्चल वर्तता है।

(५) जिनागम में तपोभावना

प्रवीण पुरुष भी गणधरदेव द्वारा अवलोकन किए हुए बाह्य-अभ्यंतर बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय समान तप न तो कभी हुआ है, न होगा, और न है।

यद्यपि अनशनादि भी तप हे और स्वाध्याय भी तप है, तथापि स्वाध्याय के बल बिना सर्व तप निर्जरा के कारण नहीं हैं; ज्ञानसहित तप ही प्रशंसनीय है। आत्मा की उज्ज्वलता-परम वीतरागता स्वाध्याय के बल से ही होती है, तथा आत्मा और मोह-रागादि कर्म—इन दोनों का भिन्नत्व ज्ञान से ही अनुभवगोचर होता है; और ज्ञान में भिन्न देखे तभी भिन्नत्व में वर्तता है कि—यह तो रागादिक कर्मजनित भाव हैं और यह मैं ज्ञान-दर्शनमय शुद्ध आत्मा हूँ; वे रागादिक इसप्रकार दूर होंगे—ऐसा समझकर अनशनादि तप करे, उसी को कर्मों की निर्जरा होती है। इसलिये स्वाध्याय समान तप कभी न तो हुआ है, न होगा और न है।

सम्यग्ज्ञानरहित अज्ञानी जीव जिन कर्मों को लाखों-करोड़ों भव तक तपश्चरण करके खिराता है, उन कर्मों को सम्यग्ज्ञानी जीव अंतर्मुहूर्त में खिरा देता है।

मिथ्याज्ञानी जो तप करता है, वह शुभराग में—व्यवहार में मोही होने से इहलोक-परलोक के भोगों की इच्छा से करता है; इसलिये नवीन कर्मों का बंध ही होता है; और सम्यग्दृष्टि आहार कर रहा हो, तथापि वांछा के अभाव से वह निर्जरा ही करता है; राग-द्वेष के अभाव के कारण उसे नवीन कर्मबंध नहीं होता।—यह शुद्धता है, और जो कर्मबंध करे, वह अशुद्धता है।

स्वाध्याय-भावना द्वारा, कर्म के आगमन के कारणरूप जो मन-वचन-काया का व्यापार है, उस का अभाव होने से तीन प्रकार की गुप्ति होती है; और गुप्ति होने से मरण तक आराधना निर्विघ्न रहती है। इसलिये स्वाध्याय ही आराधना का प्रधान कारण है। यहाँ इतना विशेष है कि जो स्वाध्याय-भावना में रत हो, वही पर जीवों को उपदेश देनेवाला होता है; दूसरा कोई परोपकार में समर्थ नहीं है।

(६) परोपदेशदाता होने में कौन से गुण प्रगट होते हैं, वह कहते हैं:—

दूसरे भव्यजनों को सत्यार्थ धर्म का उपदेश देने से अपने को और अन्य श्रोताजनों को संसार से भयभीतता होती है; तथा परमधर्म में प्रवर्तन से संसार परिभ्रमण का अभाव होता है; इसलिये अपना तथा पर का उद्धार जिनवचन के उपदेश से ही होता है। और, अपने आत्मा को तथा अन्य जीवों को जिनेन्द्र के आगम का उपदेश करने से भगवान सर्वज्ञ की आज्ञा का पालन होता है।

जिनेन्द्र के धर्म में जिसे अत्यन्त प्रीति हो, वही निर्वांछक और अभिमान रहित होकर धर्मोपदेश करता है, इसलिये उसमें वात्सल्य गुण भी प्रगट होता है। और जिनेन्द्र के धर्म का उपदेश देकर धर्म का प्रभाव प्रगट करने में जिसे उत्साह हो तथा आत्मगुण बढ़ाने की वांछा हो, उसके प्रभावना नाम का गुण होता ही है। और स्याद्वादरूप परमागम में जिसे अत्यन्त प्रीति हो, उसी को धर्म का उपदेशकपना होता है, इसलिये उसमें भक्तिगुण भी प्रगट होता है। और परमागम के सत्यार्थ उपदेश द्वारा धर्मतीर्थ की अविच्छिन्नता रहती है, उसकी परम्परा नहीं टूटती, सर्व जैनधर्म का स्वरूप जानते रहते हैं और चिरकाल तक धर्म का प्रवाह चलता है; इसलिये अपना और पर का उद्धार, भगवान की आज्ञा का पालन, वात्सल्य, प्रभावना, भक्ति तथा धर्मतीर्थ की अविच्छिन्नता—यह धर्मोपदेश के दातापने से जानकर आगम की आज्ञानुसार धर्मोपदेश में वर्तना ही परमकल्याण है।

इसप्रकार जिनवचनों के अभ्यास से होनेवाले गुणों का वर्णन किया; यह जानकर जिनेन्द्र भगवान के वचन दिन-रात निरंतर पढ़नेयोग्य हैं। जिनवचनों के अतिरिक्त कोई शरणभूत नहीं है, इसलिये उन्हें सर्वप्रकार से हितरूप जानकर उनकी आराधना करके मानव-जन्म सफल करो!

[भगवती आराधना, शिक्षा अधिकार, गाथा १०१ से ११३]

विषयों में से सुखबुद्धि

वास्तव में कब छूटी कहलाती है ?

स्वभावदृष्टि का फल पूर्णानंद की प्राप्ति है और निमित्ताधीन दृष्टि का फल अनंत-संसार-परिभ्रमण है। हे जीवों! उस अनंत-संसार-परिभ्रमण से बचने के लिये और पूर्णानन्द को प्राप्त करने के लिये निमित्ताधीन दृष्टि छोड़ी और निजस्वभावदृष्टि प्रगट करो—ऐसा श्री ज्ञानियों का उपदेश है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान एवं सुख से परिपूर्ण है; उसी के अवलम्बन से ज्ञान और सुख का विकास होता है, अपने ज्ञान और सुख के लिये आत्मा को किसी अन्य पदार्थ के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं है।—ऐसा जो नहीं जानता और निमितत के अवलम्बन से आत्मा को लाभ होता है—ऐसा मानता है, उसे विषयों में सुखबुद्धि नहीं छूटी है और उसने आत्मा के ज्ञान-आनंदस्वभाव को नहीं माना है।

मुझमें ही परिपूर्ण ज्ञान और सुखरूप परिणमित होने की शक्ति है; उस शक्ति में से ही मेरा ज्ञान और सुख परिणमित होता है—ऐसा न मानकर शास्त्रादि निमित्त के अवलम्बन से मेरा ज्ञान और सुख परिणमित होता है—ऐसा जिसने माना, उसने संयोग से लाभ माना है। जो जिससे लाभ माने, उसे उसमें सुखबुद्धि होती है। जो संयोग से लाभ माने, उसे संयोग में सुखबुद्धि है और जो निमित्त से लाभ माने, उसे निमित्त में सुखबुद्धि है। संयोग अर्थात् पर विषय; निमित्त भी पर विषय है। जिसके निमित्त के आश्रय से लाभ होने की बुद्धि है, उसे पर विषयों में सुखबुद्धि है; उसने आत्मा के अतीन्द्रिय स्वाधीन सुख को नहीं जाना है।

जिसने आत्मा को किसी भी संयोग से या निमित्त से लाभ माना, उसके अंतर में पर विषयों की ही रुचि है; उसे आत्मा के स्वाधीन सुख की रुचि नहीं हुई है और स्वविषय उसकी रुचि में नहीं आया है। जिसे वास्तव में आत्मा के सुख की रुचि हो, वह किसी भी पर विषय से लाभ नहीं मानता; चैतन्यबिम्ब स्वतत्त्व के अतिरिक्त अन्य किसी से लाभ मानना, वह मैथुनबुद्धि अर्थात् विषयों में सुखबुद्धि है।

अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुखरूप परिणमित होने की आत्मा की ही शक्ति है; उसके पहले निमित्त के आश्रय से ज्ञान और सुख का विकास होता है—ऐसा जो मानता है, उसके

पंचेन्द्रिय के विषयों में सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है और अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव का लक्ष नहीं हुआ है। निमित्त के आश्रय से लाभ माननेवाला या विषयों में सुख माननेवाला—उन दोनों की एक ही जाति है; दोनों संयोगी दृष्टिवाले मिथ्यादृष्टि हैं; वे आत्मस्वभाव का आश्रय करके परिणमित न होकर संयोग का आश्रय करके ही परिणमित हो रहे हैं। भले शुभभाव हो, तथापि उसके विषयों की रुचि दूर होकर स्वभाव की रुचि नहीं हुई है।

''मेरा आत्मा ही सर्वज्ञता और परमसुख से परिपूर्ण है''—ऐसी जिसे प्रतीति नहीं है, वह जीव ''भोगहेतु धर्म की अर्थात् पुण्य की'' ही श्रद्धा करता है। चैतन्य के निर्विषय—अतीन्द्रिय सुख का उसे अनुभव नहीं है, इसलिये उसके अंतर में भोग का हेतु विद्यमान है।

आत्मा में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि पर में से कुछ लाभ ले; और परवस्तु में भी कोई ऐसी शक्ति नहीं है कि आत्मा का लाभ दे! तथापि जो जीव, पर का आश्रय करके उसमें से लाभ लेना मानता है, उसे स्वविषय की रुचि नहीं है किन्तु अंतर में विषयों के सुख की रुचि विद्यमान है; उसने अपने ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को ध्येयरूप नहीं बनाया है परन्तु पर विषयों को ही ध्येयरूप बनाया है। यहाँ विषय कहने से मात्र अशुभराग के निमित्त ही नहीं समझना परन्तु देव-गुरु-शास्त्रादि शुभराग के निमित्त भी परविषय ही हैं। अपने चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त समस्त पदार्थ परविषय हैं; उनके आश्रय से ही जो लाभ माने, उसे परविषयों की प्रीति है, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है। आत्मा की श्रद्धा करनेवाले को परविषयों के आश्रय से लाभ की बुद्धि नहीं होती। निमित्त को ध्येय बनाकर उसका आश्रय करे तो धर्म नहीं होता, परन्तु अपने शुद्ध आत्मा को ध्येय बनाकर उसका आश्रय करे तो धर्म होता है।

आत्मा का स्वभाव अपने से ही परिपूर्ण है; उस पूर्णता की प्रतीति करनेवाला साधक अपने ज्ञानादि को परावलम्बन से नहीं मानता परन्तु स्वभाव के अवलम्बन से मानकर स्वोन्मुख होता है। पर-सन्मुख देखने से आत्मा को किंचित् लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा के गुण, पर में नहीं हैं; सम्पूर्ण सामर्थ्यवान अपने आत्मा की ओर देखे तो पूर्ण ज्ञान-आनंद की प्राप्ति हो सकती है। स्वभावाश्रित परिणमन को छोड़कर जो जीव निमित्तादि परद्रव्य के अवलंबन से अपने ज्ञानादि का परिणमन मानता है, वह जीव व्यभिचारिणी बुद्धिवाला मिथ्यादृष्टि है। निमित्त के आश्रय से लाभ हो—ऐसी मान्यता कहो, विषयों में सुखबुद्धि कहो, व्यभिचारिणी बुद्धि कहो, संयोगीदृष्टि कहो, मूढ़ता कहो, अज्ञान कहो, मिथ्यात्व कहो, अधर्म कहो अथवा अनंत संसार का मूलकारण

कहो—उन सबका एक ही भाव है। जहाँ अपने सहजानंदस्वरूप की रुचि नहीं है और पराश्रय भाव की रुचि है, वहाँ उपरोक्त समस्त भाव उसमें विद्यमान हैं। जो जीव अपने स्वाभाविक ज्ञान और सुख की अपूर्व श्रद्धा करता है, उसका परिणमन अंतर्मुख हो जाता है और बाह्य में पराश्रय के उछाले रुक जाते हैं।

जो जीव अंतरस्वभाव के सन्मुख होकर उसकी प्रतीति नहीं करता और निमितत की सन्मुखता से लाभ मानता है, उसे विषयों में से सुखबुद्धि दूर होकर स्वभाव की दृष्टि नहीं हुई है। कोई भी पर निमित्त मुझे लाभ-हानि करता है—ऐसी जिसकी मान्यता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि, विषयों की बुद्धिवाला है। स्वभावबुद्धिवाला धर्मी जीव किसी भी पर निमितत से अपने को लाभ-हानि होना नहीं मानता; इसलिये वह तो निमित्तों की ओर का लक्ष छोड़कर अपने स्वभाव के अवलम्बन से पूर्णता की साधना कर लेता है।

इसप्रकार स्वभावदृष्टि का फल पूर्णानंद की प्राप्ति है, और निमित्ताधीन दृष्टि का फल अनंत संसार-परिभ्रमण है।

हे जीवो! उस अनंत संसार-परिभ्रमण से बचने और पूर्णानन्द को प्राप्त करने के लिये तुम निमित्ताधीन दृष्टि को छोड़ो और निजस्वभाव की दृष्टि प्रगट करो!—ऐसा श्री ज्ञानी गुरुओं का उपदेश है। *[—प्रवचन से]*

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की कुछ शक्तियाँ

[११]

स्वच्छत्वशक्ति

अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में प्रकाशमान लोकालोक के आकारों से मेचक (अनेक-आकाररूप) – ऐसा उपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी स्वच्छत्वशक्ति आत्मा में है। जिसप्रकार दर्पण की स्वच्छत्वशक्ति से उसकी पर्याय में घटपटादि प्रकाशित होते हैं; उसी प्रकार आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति से उसके उपयोग में लोकालोक के आकार झलकानेवाली स्वच्छता प्रकाशित होती है।

अनंत शक्तिवाले आत्मा के आधार से धर्म होता है, इसलिये उसकी शक्तियों द्वारा उसे पहिचानने के लिये यह वर्णन चलता है। आत्मा के उपयोग में लोकालोक ज्ञात हों—ऐसा उसका स्वच्छ स्वभाव है। बाह्य में शरीर के धोने से आत्मा की स्वच्छता नहीं हो सकती; स्वच्छता तो आत्मा का ही गुण है, वह कहीं बाहर से नहीं आती। अज्ञानीजन, चैतन्य के स्वच्छ स्वभाव को भूलकर शरीर की स्वच्छता में धर्म मानते हैं और शरीर की अशुचि होने से मानों अपने आत्मा में मलिनता लग गई हो, ऐसा वे मानते हैं; परन्तु आत्मा तो स्वयं स्वच्छ है, उसके उपयोग में लोकालोक ज्ञात होने पर भी मलिनता न लगे, ऐसा उसका स्वच्छ स्वभाव है।

हे जीव! तेरी स्वच्छता ऐसी है कि उसमें जगत का कोई पदार्थ ज्ञात हुए बिना नहीं रहता। जिसप्रकार दर्पण की स्वच्छता में सब दिखाई देता है; उसी प्रकार स्वच्छत्वशक्ति के कारण आत्मा के उपयोग में लोकालोक ज्ञात होता है। शरीर तो जड़ है; उसमें किसी को जानने की शक्ति नहीं है; रागादिभावों में भी ऐसी स्वच्छता नहीं है कि वे किसी को जान सकें; वे तो अंध हैं; आत्मा में ही ऐसी स्वच्छता है कि उसके उपयोग में सब ज्ञात होता है। स्वच्छता के कारण आत्मा का उपयोग ही लोकालोक के ज्ञानरूप से परिणमित हो जाता है। शरीर स्वच्छ हो तो आत्मा के भाव निर्मल हों –

ऐसा नहीं है। जगत के सर्व पदार्थ मेरे उपयोग में भले ही ज्ञात हों परन्तु वे कोई पदार्थ मेरे स्वच्छता को बिगाड़ने में समर्थ नहीं हैं। बाह्य पदार्थ कहीं ज्ञान में नहीं आ जाते; परन्तु ज्ञान के उपयोग का ऐसा मेचक स्वभाव है कि वह समस्त पदार्थों के ज्ञानरूप से परिणमित होता है; तथापि अपनी स्वच्छता को नहीं छोड़ता। जिसने अपने ऐसे पवित्र उपयोगस्वभाव की प्रतीति की, वह जीव स्वसन्मुखता से पर्याय-पर्याय में पवित्रता प्रगट करता हुआ केवलज्ञान के सन्मुख होता जाता है।

लोकालोक को देखने के लिये जीव को कहीं बाहर नहीं देखना पड़ता; परन्तु जहाँ ज्ञान का उपयोग स्वरूप में लीन होकर स्वच्छरूप से परिणमित हुआ, वहाँ उसकी स्वच्छता में लोकालोक अपने आप आकर झलकते हैं। वस्तुपाल-तेजपाल के सम्बन्ध में एक ऐसी किवदन्ति प्रचलित है कि एक बार वे चोरों के भय से रुपये तथा गहने आदि सम्पत्ति को धरती में गाड़ने के लिए गड्ढा खोद रहे थे; वहाँ उस गड्ढे में से ही स्वर्ण-मुहरों के निधान निकल पड़े। यह देखकर उनकी स्त्री कहने लगी कि अरे! आपका धरती में गाड़ने से क्या प्रयोजन है? जहाँ पग-पग पर निधान निकल रहे हैं, वहाँ गाड़ना किसलिये? इस लक्ष्मी का तो ऐसा सदुपयोग करो कि जिसे कोई चुरा न सके।—इस घटना के बाद उन्होंने मन्दिर बनवाए। उसी प्रकार यहाँ चैतन्य में ऐसी उपयोगलक्ष्मी का भण्डार भरा है कि अंतर्मुख गहराई तक उतरकर खोदने से केवलज्ञान के निधान प्रगट होते हैं, और लोकालोक आकर उनमें झलकते हैं। उस उपयोग की स्वच्छता को कोई चुरा नहीं सकता। जिसके स्वभाव में ऐसे निधान भरे हैं, उसे किसी पर का आश्रय क्यों होगा? स्वभाव के आश्रय से पर्याय-पर्याय में पूर्ण निधान प्रगट होते हैं। आत्मा में ही ऐसी स्वच्छता भरी है कि कोई परवस्तु या मंदकषाय आश्रय बिना ही उसका उपयोग लोकालोक को जाननेरूप परिणमित होता है।

स्वच्छ दर्पण के सामने मोर हो, वहाँ दर्पण में ऐसा स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई देता है - मानों मोर दर्पण में प्रविष्ट हो गया हो! वहाँ वास्तव में दर्पण में मोर दिखलाई नहीं देता परन्तु दर्पण की स्वच्छता का ही वैसा परिणमन है। उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा का उपयोग ही सारे जगत का मंगलदर्पण है; उसकी स्वच्छता में लोकालोक ऐसे स्पष्टरूप से ज्ञात होते हैं—मानों लोकालोक उसमें प्रविष्ट हो गये हों। वास्तव में कहीं लोकालोक आत्मा के उपयोग में प्रविष्ट नहीं हो जाते; लोकालोक तो बाहर ही हैं; आत्मा का स्वच्छ उपयोग ही उस स्वरूप से परिणमित हुआ है। ऐसी स्वच्छत्वशक्ति आत्मा में त्रिकाल है। कहीं बाह्य के लक्ष से उपयोग की स्वच्छता नहीं होती परन्तु त्रिकाली स्वच्छ उपयोगस्वभाव के सन्मुख होने से उपयोग की स्वच्छता प्रगट होती है। इसप्रकार

स्वच्छत्वशक्ति द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों में व्याप्त है। एक समय में जगत के अनेक पदार्थों को जाने, वैसे स्वच्छ आकाररूप उपयोग का परिणमन होने पर भी उसके खण्ड-खण्ड या उसमें मलिनता नहीं हो जाती।—ऐसा स्वच्छत्वशक्ति का प्रताप है।

परसन्मुख देखने से अथवा शुभराग के कारण उपयोग का स्वच्छत्व नहीं होता; शुभराग तो स्वयं मलिनता है। आत्मा का त्रिकाली स्वच्छ स्वभाव है, उसकी प्रतीति करके परिणमित होने से लोकालोक को प्रकाशित करे, ऐसा स्वच्छ उपयोग प्रगट होता है। वह उपयोग परसन्मुख देखे बिना स्वयं अपने में लीन रहकर अपनी स्वच्छता में सब को जान लेता है। जैसे—कभी-कभी स्वयंवर आदि में कन्या को राजकुमारों की ओर देखना न पड़े, इसके लिए एक बड़ा स्वच्छ दर्पण रखते हैं; उस दर्पण में कन्या, राजकुमारों की सूरत देख लेती है; उसमें किसी की ओर देखने की या दूसरे के आश्रय की कन्या को आवश्यकता नहीं रहती; उसी प्रकार आत्मा में ऐसी स्वच्छता है कि पर-लोकालोक के सन्मुख देखे बिना, स्वयं अपने स्वभाव की ओर देखते हुए निर्मल उपयोगभूमि में लोकालोक को देख लेता है। जिसप्रकार सती स्त्रियाँ, पर पुरुष की ओर आँख उठाकर नहीं देखतीं, उसी प्रकार पवित्र मूर्ति आत्मा परसन्मुख देखे बिना ही लोकालोक को प्रकाशित करनेरूप परिणमित होने की शक्तिवाला है।

द्रोपदी, सीताजी आदि महान सती थीं; एक पति के अतिरिक्त किसी अन्य की स्वप्न में भी उनके इच्छा नहीं थी। द्रोपदी सती के एक ही पति था; स्वयंवर में उन्होंने पाँच पाण्डवों को वरमाला नहीं पहनाई, परन्तु एक अर्जुन का ही वरण किया था। पूर्व प्रारब्ध के योग से ऐसी झूठी बात उड़ गई कि द्रौपदी के पाँच पति थे। अहो! युधिष्ठिर और भीम जैसे जेठ तो पितातुल्य थे तथा नकुल, सहदेव जैसे देवर उन्हें पुत्रतुल्य थे। ऐसी पवित्र सती को पाँच पति माननेवाले मूढ़-मिथ्याभाषी हैं। सती के स्वप्न में भी ऐसा नहीं होता। सती सीता, द्रौपदी, राजुल आदि तो जगत की चन्द्रिकाएँ थीं, उन्हें आत्मा का भान था; अंतर में ब्रह्म-आनंद का रसास्वादन किया था, इसलिये विषय नीरस लगते थे, विषयों में किंचित् सुख नहीं मानती थीं। ऐसी पवित्र सतियाँ किसी अन्य की ओर नहीं देख सकतीं। यहाँ सतियों का दृष्टान्त देकर यह समझाना है कि जिसप्रकार पवित्र सतियाँ अन्य पुरुषों के सामने नहीं देखतीं; उसी प्रकार भगवान आत्मा ऐसा स्वच्छ-पवित्र स्वभावी है कि किसी अनय की ओर देखे बिना, स्वयं अपने स्वभाव से ही लोकालोक को जाननेरूप परिणमित हो जाता है। आत्मा इन्द्रियों के अवलम्बन से या परज्ञेयों की सन्मुखता से नहीं जानता।

यह द्रव्यदृष्टि की बात वर्तमान पर्याय में कचास होने पर भी स्वसन्मुख स्वभाव की प्रतीति करने की यह बात है। जितनी बहिर्मुखवृत्ति हो, वह मेरा स्वरूप नहीं है; मेरा पूर्ण स्वभाव अंतर्मुख है। मेरे स्वभाव की स्वच्छता ऐसी है कि उसकी ओर देखने से सब ज्ञात हो जाता है। बाह्य में देखते हुए तो विकल्प उठते हैं और पूर्ण ज्ञात नहीं होता; लोकालोक को जानने के लिए बाह्य में लक्ष नहीं बढ़ाना पड़ता परन्तु अन्तर में एकाग्र होना पड़ता है। अनंत अलोकक्षेत्र, अनंतकाल और लोक के अनंत पदार्थ—वह सब स्वभावसन्मुख देखने से ज्ञात हो जाता है। लोकालोक के सन्मुख देखकर कोई जीव लोकालोक का पार नहीं पा सकता, परन्तु ज्ञान अंतर में स्थिर होने से लोकालोक का पार पा लेता है। इसप्रकार धर्मी को अपने अंतर्मुख स्वभाव की प्रतीति है।

आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! तू पर को जानने की आकुलता छोड़कर अपने में स्थिर हो! पर को जानने की आकुलता करने से तो सारा ज्ञान विपरीत रुक जायेगा और पूर्ण नहीं जान सकेगा। परन्तु यदि स्वरूप में स्थिर हो तो तेरे ज्ञान का ऐसा विकास प्रगट हो जायेगा कि लोकालोक सहज ही उसमें ज्ञात होंगे। इसलिये स्वभावसन्मुख होकर अपनी स्वच्छता के सामर्थ्य की प्रतीति कर और उसमें स्थिर हो। देखो, यह लोकालोक को जानने का उपाय!

अमूर्तिक आत्मप्रदेशों में ही लोकालोक झलकते हैं। लोक में मूर्तिक पदार्थ हैं, वे भी अमूर्तिक ज्ञान में ज्ञात होते हैं। मूर्तिक पदार्थों को जानने से ज्ञान कहीं मूर्तिक नहीं हो जाता, क्योंकि मूर्तिक पदार्थों का ज्ञान तो अमूर्तिक ही है। जगत में अनंत आत्मा सदा पृथक्-पृथक् है; उनमें ज्ञानगुण हैं, उनके उपयोग का परिणमन है, उनका पूर्ण स्वच्छ परिणमन होने से उसमें लोकालोक ज्ञात होते हैं। सामने ज्ञेयरूप लोकालोक हैं, परन्तु लोकालोक को जाननेवाला ज्ञान उनसे पृथक है; लोकलोक का ज्ञान तो आत्मप्रदेशों में ही समा जाता है।—एक स्वच्छत्वशक्ति को मानने से उसमें यह सब आ जाता है। जो यह सब स्वीकार न करे, उसे आत्मा के स्वच्छत्वस्वभाव की प्रतीति नहीं है।

दर्पण की स्वच्छता के कारण उसमें मयूरादि स्वयं प्रकाशित होते हैं। जिनमंदिर में लगे हुए दोनों ओर के दर्पण में अनेक जिनप्रतिमाओं की पंक्ति हो, ऐसा दिखाई देता है; वहाँ कहीं दर्पण में जिनप्रतिमा नहीं है, किन्तु दर्पण की स्वच्छता का ही वैसा परिणमन है। अनेक प्रकार के रंग और आकृतियाँ दर्पण में दिखलाई देती हैं, वह कहीं बाह्य की उपाधि नहीं है परन्तु दर्पण की स्वच्छता की ही अवस्था है। उसीप्रकार आत्मा का ऐसा स्वच्छ स्वभाव है कि उसके उपयोग के परिणमन में लोकालोक का प्रतिबिंब झलक रहा है, अनंत सिद्ध भगवन्त एक साथ ज्ञान में झलक रहे हैं; वहाँ

ज्ञान में कहीं वे परद्रव्य नहीं है परन्तु ज्ञान की स्वच्छता का ही वैसा परिणमन है। ज्ञान में लोकालोक की उपाधि नहीं है। अहो! ऐसे स्वच्छ ज्ञानस्वभाव में कहीं पर का अवलम्बन, विकार या अपूर्णता है ही कहाँ?

जिस प्रकार बाजार में किसी दुकान में दर्पण लगा हो; उसमें बाजार में आने-जानेवाले हाथी, घोड़े, मोटर, साइकिल, मनुष्य, स्त्री, कोयला, विष्टा इत्यादि विचित्र पदार्थ झलकते हैं, परन्तु दर्पण को किसी पर राग-द्वेष नहीं होता; दर्पण स्वयं स्थिर रहता है और पदार्थ स्वयमेव उसमें झलकते हैं। उसीप्रकार आत्मा के चैतन्य-दर्पण में विश्व के समस्त चित्र-विचित्र पदार्थ झलकते हैं —ऐसा उसका स्वभाव है; परन्तु उनमें से किसी पर राग-द्वेष करने का उसका स्वभाव नहीं है। सिद्ध पर राग और अभव्य पर द्वेष करे, ऐसा उसमें नहीं है; वह तो निजस्वरूप में स्थिर रहकर वीतरागरूप से विश्व के प्रतिबिम्ब को अपने में झलका रहा है। दर्पण का दृष्टान्त दिया, वह दर्पण तो जड़ है; उसे पर की या अपने स्वभाव की खबर नहीं है; आत्मा तो लोकालोक-प्रकाशक चैतन्य-दर्पण है; वह स्वयं अपने स्वभाव का तथा पर का प्रकाशक है। स्थिर होकर स्वयं अपने अतीन्द्रिय ज्ञानदर्पण में देखे तो उसमें अपना शुद्ध स्वरूप दिखाई दे, और लोकालोक का भी ज्ञान हो जाये।

देखो, यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि निजस्वरूप को जानने से पर का ज्ञान हो जाता है। स्वभाव को जाने बिना मात्र पर को ही जानने जाये तो वह मिथ्याज्ञान है, उसमें पर का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जहाँ स्वप्रकाशकतारूप निश्चय हो, वहीं पर प्रकाशकतारूप व्यवहार होता है।

जगत में स्व-पर दोनों वस्तुएँ हैं, और उन दोनों को जानने का ज्ञान का सामर्थ्य है; परन्तु स्व में पर का अभाव है और पर में स्व का अभाव है।—ऐसा जानना, वह अनेकान्त है, और वही सत्य स्वरूप है। ऐसा सत्य स्वरूप जाने बिना कोई सत्यवादी नहीं हो सकता। एकान्तवादी जो कुछ बोलता है, वह सब मिथ्या है—असत्य है। स्याद्वाद ही सच्चा सत्यवाद है। प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वभाव-सामर्थ्य से परिपूर्ण है और पर से पृथक है—इसप्रकार अनेकान्त द्वारा सत्य वस्तुस्वरूप को पहिचाने बिना वीतरागी सत्य की घोषणा नहीं हो सकती।

आत्मा की स्वच्छशक्ति में विकार नहीं है और उस स्वच्छशक्ति में अभेद होकर परिणमित होने से पर्याय में भी मलिनता नहीं रह सकती। जिस प्रकार आँख के भीतर एक रजकण भी नहीं रह सकता, उसीप्रकार आत्मा के स्वच्छ उपयोग में विकार का अंश भी नहीं रह सकता।

[यहाँ अनंतधर्मात्मक आत्मा की स्वच्छत्वशक्ति का वर्णन पूरा हुआ।]

आत्मा कौन है और
कैसे प्राप्त होता है ?

[१२]

[श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है; उस पर पूज्य स्वामीजी के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार]

(२१) असर्वगतनय से आत्मा का वर्णन

'सर्ववर्ती' धर्म के साथ आत्मा में एक 'आत्मवर्ती' धर्म भी है; असर्वगतनय से देखने पर आत्मा सर्ववर्ती नहीं है परन्तु आत्मवर्ती है। जिस प्रकार मींची हुई आँख अपने में ही विद्यमान है; उसी प्रकार असर्वगतनय से आत्मा अपने में ही विद्यमान है; इसलिये वह आत्मवर्ती है। यहाँ आत्मा को 'असर्वगतनय' से 'आत्मवर्ती' कहा, उसका अर्थ 'अल्पज्ञता' नहीं है; मींची हुई आँख का दृष्टान्त अल्पज्ञता बतलाने के लिये नहीं दिया है परन्तु 'आत्मवर्तीपना' बतलाने के लिये दिया है। आत्मा अपने ज्ञानसामर्थ्य से सर्व को जानता है, तथापि स्वयं अपने में ही लीन रहता है, सर्व में व्याप्त नहीं हो जाता; इसलिये वह सर्ववर्ती नहीं है परन्तु आत्मवर्ती है। समस्त ज्ञेयों को जान लेता है, उस अपेक्षा से आत्मा को सर्ववर्ती कहा है, परन्तु आत्मा परज्ञेयों में नहीं वर्तता, अपितु अपने में ही वर्तता है, उस अपेक्षा से वह आत्मवर्ती है। 'सर्ववर्ती' कहकर पर से भिन्नता बतलाई है। अहो! समस्त पदार्थों को जानने पर भी ज्ञान परज्ञेयों में नहीं वर्तता, ज्ञान तो आत्मवर्ती है, आत्मा में ही लीन रहकर वह सर्व को जान लेता है; इसलिये परज्ञेयों के सन्मुख होकर उन्हें जानने की आकुलता छोड़ और अपने ज्ञान को स्वभावसन्मुख एकाग्र कर तो उसमें लोकालोक के समस्त ज्ञेय ज्ञात हो जायेंगे। देखो, यह चैतन्यपद का अचिंत्य सामर्थ्य! अनंतधर्म वाले चैतन्यपद की महिमा वाणी से नहीं कही जा सकती; ज्ञान में परिपूर्ण ज्ञात हो सकती है परन्तु वाणी से उसका वर्णन नहीं हो सकता। इसलिये कहा है कि:—

''जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां कही शक्या नहि ते पण भी भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्य वाणी तो शुं कहे ? अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।''

—यहाँ परिशिष्ट के प्रारम्भ में भी आचार्यदेव ने कहा था कि श्रुतज्ञानपूर्वक स्वानुभव से आत्मा प्रमेय होता है। परिपूर्ण प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान में होता है। ऐसे आत्मा की महिमा को जाने

बिना बाह्य में चाहे जितने प्रयास करे परन्तु धर्म नहीं हो सकता।

जिसप्रकार आँख सर्व पदार्थों को जानती है, तथापि, आँख तो आँख में ही रहती है, कहीं बाहर निकलकर अन्य पदार्थों में नहीं जाती; उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान सर्व ज्ञेयों को जानता है, तथापि वह अपने स्वक्षेत्र में ही रहता है। आत्मा की पूर्ण ज्ञानशक्ति विकसित होने पर वह कहीं बाहर फैल जाती है, ऐसा नहीं है। जहाँ चैतन्य का दिव्य केवलज्ञान जगमगा उठा, वहाँ भाव से शुद्ध शक्ति की अनंतता होती है परन्तु क्षेत्र से अनंतता नहीं होती। असंख्यप्रदेशी क्षेत्र में अनंत सामर्थ्य भरा है—ऐसी चैतन्य की महिमा है। केवलज्ञान का क्षेत्र अपने आत्मानुसार ही है, इसलिये केवलज्ञान प्रगट करने के लिये कहीं बाह्य में एकाग्र नहीं होना पड़ता, किन्तु आत्मा में ही एकाग्र होने से केवलज्ञान होता है। जिस प्रकार मींची हुई आँख स्वयं अपने में ही विद्यमान है; उसी प्रकार आत्मा परसन्मुख हुए बिना और पर में प्रविष्ट हुए बिना स्वयं अपने में ही रहकर जानता है; इसलिये वह आत्मवर्ती है—ऐसा असर्वगतनय जानता है।

लोकालोक को जानने पर भी आत्मद्रव्य अपने में ही स्वसन्मुख रहता है, इसलिये वह अपने में ही वर्तता है; और पर को जानते हुए पर में व्याप्त होता है—ऐसा कहना वह उपचार है, तथा स्व में ही व्याप्त रहता है—वह परमार्थ है। एक जीव अनंत को जानने पर भी स्वयं उन अनंत पदार्थों रूप नहीं हो जाता, स्वयं तो अपने एकरूप रहकर ही जानता है।

देखो, केवलज्ञान का परिपूर्ण सामर्थ्य विकसित हो गया है; उसमें समस्त ज्ञेय ज्ञात होते हैं, इसलिये उसे 'सर्वगत' कहकर उसमें सर्व पदार्थों का निमित्तपना भी बतलाया है। केवलज्ञान में जगत के सर्व पदार्थ निमित्त हैं; परन्तु ज्ञान में ऐसे निमित्त-नैमित्तिक संबंध की पूर्णता कब होती है?—निमित्त की अपेक्षा छोड़कर ज्ञानस्वभाव में एकाग्र हो तब। केवलज्ञान का विषय तो 'सर्व' है और मिथ्याज्ञान का विषय जगत में है ही नहीं। मिथ्याज्ञान में निमित्त होते हैं, परन्तु जैसा मिथ्याज्ञान मानता है, वैसा सामने वाली वस्तुओं का स्वरूप नहीं है; इसलिये मिथ्याज्ञान का विषय जगत में नहीं है।

कोई जीव सामनेवाली वस्तु को अपने ज्ञान से जाने, वहाँ उस वस्तु में ज्ञान का ज्ञेयरूप निमित्त होने का धर्म है।

उसी वस्तु के लक्ष से कोई जीव राग-द्वेष करे तो उसके राग-द्वेष में निमित्त हो, ऐसा भी उस वस्तु का धर्म है।

कोई जीव उस वस्तु के लक्ष से मिथ्याज्ञान करे तो वहाँ सामनेवाली वस्तु को मिथ्याज्ञान का निमित्त कहा जाता है; परन्तु उसके मिथ्याज्ञान के अनुसार सामनेवाली वस्तु का स्वरूप नहीं है

इसलिये वह 'मिथ्याज्ञान का विषय' नहीं है। अहो! सारा जगत सम्यग्ज्ञान का ही विषय है।

जो ज्ञान ऐसा माने कि 'आत्मा सर्वथा क्षणिक ही है अथवा सर्वथा नित्य ही है'—तो उस ज्ञान के विषयभूत हो, ऐसी वस्तु में नहीं है, इसलिये वह ज्ञान मिथ्या है; उस मिथ्याज्ञान में नय भी नहीं होते। नय तो कब कहलाते हैं?—कि वस्तु का प्रमाणज्ञान हुआ हो, तब नय कहलाते हैं। परन्तु वस्तु के भान बिना एकान्त नित्य या एकान्त क्षणिक माने तो नय नहीं कहा जा सकता; वह तो कुनय है। मिथ्याज्ञान में नय नहीं होते, उसका तो विषय भी नहीं होता, परन्तु उसमें निमित्त होते हैं।

प्रत्येक आत्मा अनंत धर्मों से परिपूर्ण है; इतने महान आत्मा को पूर्णरूप से जाने बिना श्रद्धा-ज्ञान में सच्ची शक्ति नहीं आती, इसलिये वे सम्यक् नहीं होते। आत्मा की जितनी महिमा है उतना उसे जानने से श्रद्धा-ज्ञान उसके सन्मुख होकर सम्यक् हो जाते हैं। जिसप्रकार प्रत्येक आत्मा में अपने अनंत धर्म हैं; उसी प्रकार प्रत्येक पुद्गल परमाणु में भी उसके अपने अनंत धर्म हैं। जगत के प्रत्येक द्रव्य में अपने-अपने अनंत धर्म हैं; परन्तु यहाँ तो आत्मा की ही प्रधानता है। सर्व का ज्ञाता तो आत्मा है; आत्मा के बिना 'दूसरे का अस्तित्व है'—ऐसा कौन जानेगा? इसलिये 'ज्ञाता' रूप से आत्मा की महिमा है। आत्मा सर्व को जानता है; इसलिये सर्व द्रव्यों में आत्मा ही उत्तम पदार्थ है।—ऐसे आत्मा को जानना, वह मोक्ष का कारण है।

—ऐसे आत्मा को जानने के लिये जिज्ञासु शिष्य ने प्रश्न किया था; उसके उत्तर में 'आत्मद्रव्य अनंत धर्मात्मक है'—ऐसा कहकर पश्चात् आचार्यदेव ने ४७ धर्मों से उसका वर्णन किया है; उसमें २० वें बोल में 'सर्वगतनय से सर्ववर्ती' कहकर ज्ञान का परिपूर्ण जानने का सामर्थ्य बतलाया था, और २१ वें बोल में 'असर्वगतनय से आत्मवर्ती' कहकर ज्ञान पर में प्रविष्ट होकर नहीं जानता परन्तु अपने में रहकर ही जानता है - ऐसा बतलाया है।

—यहाँ २१ वें असर्वगतनय से आत्मा का वर्णन पूर्ण हुआ।

❀❀❀

इस परिशिष्ट में ४७ नयों से आत्मा का वर्णन करने के पश्चात् 'आत्मा कैसा है'—तत्सम्बन्धी कथन समाप्त करते हुए आचार्यदेव ऐसा कहेंगे कि—"इसप्रकार स्यात्कारश्री के निवास के वश वर्तते हुए नयसमूहों द्वारा देखे तो भी और प्रमाण द्वारा देखे तो भी, स्पष्ट अनंत धर्मोंवाले निजात्मद्रव्य को अंतर में शुद्ध चैतन्यमात्र देखता ही है।"—इसलिये किसी भी नय से आत्मा का वर्णन किया हो परन्तु उसका तात्पर्य तो अंतर में शुद्ध चैतन्यमात्र निजात्मद्रव्य को देखना ही है—यह अवश्य ध्यान रखना।

समयसार के रचयिता की निःशंकता, निर्मानता और श्रोताओं का उत्तरदायित्व

तमेकत्वविभक्त दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलयं न गृहीतव्यम्॥

इस पाँचवीं गाथा में भगवान श्री आचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपने आत्मा के निजविभव से शुद्ध आत्मा बतलाता हूँ; मैं दर्शाऊँ तो प्रमाण करना और छंद-व्याकरणादि में कहीं चूक जाऊँ तो दोष ग्रहण न करना। जो एकत्व-विभक्त स्वभाव मुझे दर्शाना है, उसमें तो मैं चूकूँगा ही नहीं, वह तो मैं स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आदि से प्रगट हुए अपने निजविभव द्वारा यथार्थ ही कहूँगा। और तुम उस एकत्व-विभक्त आत्मा को अपने स्वानुभव से प्रमाण करना। परन्तु मैं छद्मस्थ हूँ—सर्वज्ञ नहीं हूँ; इसलिये किसी स्थान पर व्याकरणादि का दोष आ जाना संभव है; यदि वैसा कोई दोष आ जाये तो उसके सन्मुख देखकर तुम रुकना मत।

समयसार का श्रोता कैसा होता है, यह भी इसमें आ जाता है; वह एक शुद्ध आत्मा को समझने का ही अर्थी है; इसके अतिरिक्त अन्य सर्व बातों को वह गौण कर देता है। शुद्धात्मा बतलाने का शास्त्र का मूल प्रयोजन है, उसे लक्ष में न लेकर जो शब्दों की विभक्ति आदि में ही अटक जाता है, उसे शुद्धात्मा का दर्शन नहीं होता। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि हे शिष्य! मैं जो शुद्ध आत्मा दर्शाता हूँ, वह तू प्रमाण करना, और दोष को ग्रहण मत करना।

अनेक स्वच्छन्दी जीव यह गाथा पढ़कर कहते हैं कि 'देखो, कुंदकुंदाचार्य को स्वयं शंका है, इसलिये चूक जाने की बात कही है।' अहो! कुंदकुंदाचार्यदेव कौन थे, इसकी भी उन मूढ़ जीवों को खबर नहीं है; इसलिये वे ऐसा कहते हैं। वास्तव में चूक जाने की बात कही, उसमें शंका नहीं किन्तु विवेक है—निर्मानता है। यह ध्यान रखना कि चूक जाने की बात तो व्याकरणादि 'अप्रयोजनभूत' विषय की है। 'प्रयोजनभूत' ऐसा जो शुद्ध आत्मा है, उसे तो मैं अपने निजविभव से

नि:शंकारूप से दर्शाऊँगा—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं। प्रयोजनभूत बात को मुख्य न करके जो जीव अप्रयोजनभूत बात को मुख्य करते हैं, वे जीव यह समयसार सुनने के पात्र नहीं हैं।

यहाँ आचार्यदेव ने महान विवेक और निर्मानता से यथार्थ वस्तुस्थिति रखी है। 'यह समयसार भगवान या गणधर द्वारा कथित है, इसलिये दोष नहीं ही आ सकता'—ऐसा कहकर स्वयं उत्तरदायित्व में से छूट नहीं जाते, परन्तु भूमिका के उत्तरदायित्व के भानसहित कहते हैं कि "इस समयसार का कथन करनेवाला मैं छद्मस्थ हूँ, इसलिये कहीं ज्ञातृत्व के सम्बन्ध में दोष आ जाये तो उसे ग्रहण मत करना, परन्तु मैं जो शुद्धात्मा बतलाना चाहता हूँ, उसी को ग्रहण करना।' फिर भले ही 'सर्वज्ञ ऐसा कहते हैं, जिनवर ऐसा कहते हैं'—इसप्रकार भगवान की साक्षी देकर आचार्यदेव कथन करेंगे; परन्तु भगवान ने कहा, वह झेला किसने? झेलनेवाला तो मैं छद्मस्थ हूँ; मैंने जो अपने ज्ञान में झेला है, वह मैं कहूँगा। परमागम की उपासना से, निर्बाध युक्ति के आलम्बन से, परापर गुरुओं के अनुग्रहपूर्वक उपदेश से और प्रचुर स्वसंवेदन से मेरे आत्मा का जो निज-वैभव प्रगट हुआ है, उस समस्त निजवैभव द्वारा मैं शुद्धात्मा का जो कथन करूँगा। उसमें तो फेर नहीं पड़ेगा; परन्तु क्षयोपशम के बोल में किसी स्थान पर फेर पड़ जाये, ऐसा संभव है। तो उसे मुख्य न करके शुद्ध आत्मा को ही मुख्य करके, उसे स्वसंवेदन से प्रमाण करना।

—इसप्रकार भगवान ने जो कहा, उसका भाव स्वयं झेलकर... अपने आत्मा के स्वसंवेदन का साथ लेकर... अपनी भूमिका के उत्तरदायित्व के भानसहित आचार्यदेव कथन करते हैं। "गौतम ऐसा पूछते हैं और भगवान ऐसा कहते हैं"—इसप्रकार अपनी बात को भगवान के नाम पर चढ़ाकर जो स्वयं उत्तरदायित्व में से छूट जाये, वह भगवान के नाम से कथन भले करे परन्तु वास्तव में भगवान ने क्या कहा, वह भाव उसने अपने आत्मा में नहीं झेला है; इसलिये वह ऐसा कथन कर ही नहीं सकता; उसकी वाणी में अपनी भूमिका के विवेकसहित ऐसी नि:शंकता और नम्रता आती ही नहीं; भगवान के नाम से किया हुआ उसका कथन भी यथार्थ नहीं होता।

"भगवान कहते हैं, वही मैं कहता हूँ, इसलिये मेरे कथन में किसी भी प्रकार की भूल होना संभव ही नहीं है"—इसप्रकार भगवान का नाम लेकर अपनी छद्मस्थपर्याय का विवेक चूक जाये तो वह यथार्थ नहीं है; क्योंकि भले ही सर्वज्ञ भगवान और गणधरदेव ने कहा, परन्तु उनकी वाणी को झेलनेवाला तू तो सर्वज्ञ नहीं है न?—इसलिये तेरे कथन में किसी प्रकार का दोष होना भी संभव है; तथापि यदि उसे तू स्वीकार न करे तो तुझे अपनी पर्याय का विवेक नहीं है।

यहाँ श्री कुंदकुंदाचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञभगवान का आशय मेरे ज्ञान में आया है, सर्वज्ञ भगवान ने जैसा शुद्धात्मा कहा है, वैसे ही शुद्धात्मा का प्रचुर स्वसंवेदन मेरे आत्मा में प्रगट हुआ है। इसलिये, मैं अल्पज्ञ होने पर भी, जो शुद्धात्मा कहूँगा, उसमें सर्वज्ञ से विरुद्ध कुछ नहीं आयेगा; कदाचित् व्याकरण या छंद इत्यादि में दोष आ जाये तो उसे ग्रहण करने में श्रोताजन सावधान मत होना; सावधानी तो शुद्धात्मा में ही रखना।

कोई ऐसा पूछता है कि आपने तो सीमंधर भगवान के पास जाकर साक्षात् श्रवण किया है; तब फिर आपके कथन में कैसे दोष आ सकता है ?—तो आचार्य भगवान कहते हैं कि कथन करने वाले भगवान भले ही सर्वज्ञ थे, परन्तु मैं झेलनेवाला तो अल्पज्ञ था न ? कहाँ सर्वज्ञ और कहाँ मैं ! भगवान की भूल नहीं हो सकती परन्तु छद्मस्थ की भूल तो हो सकती है। मैं छद्मस्थ मुनि हूँ, इसलिये मेरी वाणी में व्याकरण-विभक्ति आदि का कोई दोष आ जाना संभव है। परन्तु मुझे जो शुद्धात्मा दर्शाना है, उसमें तो मैं नहीं ही चूकूँगा; वह तो अपने आत्मा के निजवैभव से मैं बराबर बतलाऊँगा और तुम उसे स्वानुभव से प्रमाण करना।

देखो, आचार्यदेव यथार्थ वस्तुस्थिति स्पष्ट करते हैं। उनका कथन निःशंकता और निर्मानता से भरपूर है। भले मुझे सर्वज्ञ भगवान का सीधा उपदेश सुनने को मिला, परन्तु मैं तो छद्मस्थ हूँ, मैं केवली या श्रुतकेवली नहीं हूँ; उपदेशक श्री सीमंधर भगवान सर्वज्ञ थे, परन्तु वह उपदेश झेलनेवाला मैं छद्मस्थ हूँ; मैंने अपनी शक्ति अनुसार झेलकर शुद्धात्मा को तो स्व-संवेदन प्रत्यक्ष किया है; इसलिये उसमें तो निःशंकता है। और "क्षयोपशम के किसी प्रकार में भूल होना संभव भी है"—ऐसा कहने में निर्मानता है। अहो ! सर्वज्ञ के अचिंत्य सामर्थ्य की तो बात ही क्या ! उनकी दिव्यध्वनि में तो भूल नहीं आ सकती; और महा समर्थ गणधरदेव केवली भगवान की वाणी झेलकर जिस श्रुत की रचना करते हैं, उसमें भी कहीं भूल नहीं आ सकती। परन्तु मैं केवली नहीं हूँ और गणधरदेव जितनी मेरी सामर्थ्य नहीं है; इसलिये किसी स्थान पर शब्दरचना में त्रुटि आ जाना संभव है। यह कथन करनेवाले कुंदकुंदाचार्यदेव महा समर्थ संत हैं; धर्म के स्तंभ हैं; अगाध शक्ति रखते हैं... तथापि देखो तो उनकी निर्मानदशा ! कितनी गंभीरदशा है ! साधारण तुच्छ जीवों को तो थोड़ा सा शास्त्रों का ज्ञातृत्व होने से अभिमान चढ़ जाता है कि हमें बहुत आता है ! और इन आचार्य भगवान को तो अंतर में अगाध... अगाध शक्ति वर्त रही है, तथापि देखो इनकी दशा !

केवली भगवान के निकट जाकर साक्षात् श्रवण किया है, तथापि आचार्यदेव कहते हैं कि

कथन करनेवाले भले ही केवली थे, परन्तु झेलनेवाले तावे हम छद्मस्थ हैं न ? सीमंधर भगवान की वाणी झेलनेवाला मैं छद्मस्थ हूँ। इस समय इस समयसार का कथन सर्वज्ञदेव नहीं कर रहे हैं, परन्तु सर्वज्ञदेव की वाणी में से अपनी शक्ति अनुसार झेलकर मैं कथन कर रहा हूँ। मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ इसलिये—यद्यपि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के विषय में तो फेर वहीं पड़ेगा, परन्तु—ज्ञान के विकास के किसी व्याकरणादि बोल में यदि कहीं फेर पड़ जाये तो उसे ग्रहण नहीं करना; क्योंकि मेरा हेतु शुद्धात्मा का कथन करना है; इसलिये तुम भी यही हेतु लक्ष में रखकर सुनना। यदि व्याकरण-छंद आदि के दोष देखने में रुक जाओगे तो तुम अपना शुद्धात्मा को समझने का लक्ष चूक जाओगे। इसलिये हे श्रोताजनों ! तुम इस समयसार का श्रवण करते हुए शुद्ध एकत्वविभक्त आत्मकथनी का लक्ष चूककर अन्य अप्रयोजनभूत विषय के लक्ष में मत रुकना; परन्तु शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण करना। इस समयसार के पात्र श्रोताओं का दूसरे ज्ञातृत्व पर भार न देकर अपने शुद्धात्मा को जानने पर ही भार देना चाहिए—ऐसा श्रोताओं का भी उत्तरदायित्व है। जो जीव एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा अतिरिक्त अन्य भावों पर भार देगा, वह शुद्धात्मा को नहीं देख सकता; हम उसे समयसार का श्रोता नहीं मानते। *[—श्री समयसार गाथा ५ के प्रवचन से]*

आत्मा की शक्ति

— समस्त पदार्थों को जाने—ऐसी सर्वज्ञत्व शक्ति आत्मा में त्रिकाल है।
— पर की क्रिया को न करे—ऐसी अकर्तृत्व शक्ति आत्मा में त्रिकाल है।
— किन्तु आत्मा पर की क्रिया करे—ऐसी कोई शक्ति उसमें कदापि नहीं है।

आत्मार्थी जीवों के प्रमाद को छुड़ाकर, की परिणति को मोक्षमार्ग के प्रति उल्लसित करनेवाले संतों को तथा उनकी पवित्र वाणी को नमस्कार हो !

भगवान का भक्त क्या करेगा ?

जिनके पूर्ण परमात्मदशा प्रगट हो गई है—ऐसे भगवान श्री तीर्थंकरदेव के शरीर की स्तुति करने में जो शुभराग है, उससे मात्र पुण्यबंध होता है, परन्तु उस राग से कहीं आत्मा को धर्मलाभ नहीं होता। जो जीव, राग से लाभ माने, वह सर्वज्ञ भगवान का सच्चा भक्त नहीं है। धर्म करनेवाला जीव अर्थात् भगवान का सच्चा भक्त तो भगवान के ज्ञानस्वरूपी आत्मा को पहिचानकर और वैसे ही अपने आत्मस्वभाव को पहिचानकर उसके अवलम्बन से अपने में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करता है। सर्वज्ञ-वीतराग भगवान ने जो केवलज्ञानादि प्रगट किये हैं, वे अंतर के ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन से प्रगट किये हैं; पुण्य-पाप के भाव तो नाशवान हैं, उनके द्वारा सम्यग्दर्शनादि नहीं होते। भगवान का भक्त होने के लिये भगवान का और भगवान समान अपने आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझना चाहिए। आत्मा को समझने के प्रयत्न में काल जाये तो कोई हानि नहीं है; यदि वहाँ थोड़ी देर लगे तो भी वह सत्य के पथ पर है; परन्तु यदि आत्मा का सत्य स्वरूप समझने का मार्ग न ले और राग में ही धर्म मानकर अटक जाये तो वह जीव, अज्ञानभाव से संसार के भाव में ही भटकता रहेगा... आत्मा की समझ के बिना कहीं उसका अन्त नहीं आयेगा। यदि सच्ची समझ का प्रयत्न होगा तो अल्पकाल में भव का अन्त आ जायेगा। जो भगवान का सच्चा भक्त बन जाता है, उसे अधिक भव होते ही नहीं। भगवान का सच्चा भक्त बनने के लिये, प्रथम आत्मा की स्थिरता भले न्यूनाधिक हो, परन्तु जैसा परिपूर्ण आत्मस्वभाव है और उसका जो मार्ग है, वैसा ही श्रद्धा में बराबर लेना चाहिए। सम्यक्श्रद्धा करना भी सत्य का मार्ग है, उस श्रद्धा से भी धर्मीपना बना रहेगा। परन्तु जो जीव, रागादि से धर्म मानकर विपरीत श्रद्धा करेगा, उसका तो मनुष्यभव अकारथ चला जायेगा। इसलिये भगवान का भक्त सर्वप्रथम आत्मा की पहिचान करके सच्ची श्रद्धा करेगा!

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के आध्यात्मिक प्रवचनों का
अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	मूल में भूल	।।।)
समयसार प्रवचन भाग २	५)	मुक्ति का मार्ग	।।=)
समयसार प्रवचन भाग ३	४॥)	अनुभवप्रकाश	॥)
समयसार (हिंदी)		अष्टपाहुड़	३)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	चिद्विलास	१=)
प्रवचनसार हिंदी		दसलक्षणधर्म	।।।)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	जैन बालपोथी	।)
आत्मावलोकन	१)	लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	।) ।।
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१ ।=)	सम्यक्दर्शन	२)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	स्तोत्रत्रयी	।=)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५॥)	भेदविज्ञानसार	२)
समयसार पद्यानुवाद	।)	पंचमेरु पूजन	।।।)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	=) ॥		
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)		
आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७ वर्ष	प्रत्येक का ३॥)		

(डाकव्यय अतिरिक्त)

कुछ फाईलों का मूल्य २२॥) होता है लेकिन एक साथ लेने पर १७॥)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभ-विद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये—जमनादास माणेकचंद रवाणी